भारतीय संस्कृति क्या है?

चंचल चौहान

भारतीय संस्कृति क्या है?

चंचल चौहान

प्रकाशक

© चंचल चौहान 2016

प्रकाशक

मूल्य :

भारतीय संस्कृति क्या है? (ललित निबंध)
Bhartiya Sanskriti Kya Hai (Essay)

भूमिका

हमारे समाज में संस्कृति को ले कर काफ़ी विवाद रहता है। आर एस एस के अपढ़ प्रवक्ता तो हर वाक्य में 'भारतीय संस्कृति' का जाप करते रहते हैं, मगर उनके इस जाप में कहीं कोई सार नहीं होता। इसलिए इस पर स्पष्टता के लिए अपने दोस्तों के बीच एक बैठक में यह तय हुआ कि एक छोटी सी पुस्तिका इसी विषय पर तैयार की जाये कि आख़िर भारतीय संस्कृति क्या है। इसे कुछ नये रूप में पेश किया जाये। मैंने इस पुस्तिका को लिखने का ज़िम्मा लिया। फिर सोचा, इसे क्यों न प्लेटो के संवादों की तरह गुरु-शिष्य संवाद के रूप में तैयार किया जाये जिससे शायद इसकी पठनीयता में कुछ रोचकता आ जाये। एक बात यह भी मन में आयी कि इसमें कुछ कथाएं और कविताएं भी शामिल की जायें जिससे भारतीय संस्कृति की बहुलतावादी छवि निखर कर आ सके। लेकिन वह प्रयास संभव नहीं हो सका क्योंकि इसे पोलेमिकल बनाने में मेरी दिलचस्पी ज़्यादा हावी हो गयी। यह दौर ही कुछ इस तरह का है कि आप अपने भीतर की बेचैनी इसी तरह अभिव्यक्त कर सकते हैं। हमारी भव्य असफलताएं इसी तरह का कुछ करने को प्रेरित करती रहती हैं।

भारतीय संस्कृति जैसी कोई श्रेणी क्या बनती है किसी तरह? एजाज़ अहमद ने कुछ इसी तरह का सवाल एक बार खुद से किया कि क्या भारतीय साहित्य जैसी कोई श्रेणी हो सकती है, जैसे अमेरिकन साहित्य एक श्रेणी है, अंग्रेज़ी साहित्य भी है, जर्मन, फ्रेंच आदि की जानी मानी श्रेणियां हैं, मगर क्या एशियाई साहित्य या यूरोपीय साहित्य नाम की कोई श्रेणी हो सकती है? संस्कृति का मामला भी शायद इसी कोटि का है। भारत एक तरह का उपमहाद्वीप है जहां बहुत तरह की भाषाएं हैं और उनका अच्छा ख़ासा समृद्ध साहित्य है, दुनिया के विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है, इसी तरह, भारत में अनेक तरह के अंचल हैं, वहां के अलग अलग तरह के रीतिरिवाज हैं, गीत हैं, नृत्य हैं, कलारूप हैं, वे सभी संस्कृति के अंग हैं और फिर तरह तरह की धार्मिक मान्यताएं हैं, भारत के एक हिस्से के लोग देश के ही दूसरे हिस्से के लोगों के सांस्कृतिक ताने बाने के बारे में कुछ भी नहीं जानते। भारत के अतीत के बारे में काफ़ी भ्रांतियां फैली हुई हैं। हमें किताबों में जिस अतीत के बारे में पढ़ाया जाता रहा है, वह अपनी पूरी विपुलता में भी इस पूरे महादेश को कभी समेटता नज़र नहीं आया। सारे अवतार मानो उत्तर भारत में ही हुए, वे भी शायद उत्तर प्रदेश में ही। सारा इतिहास उत्तर भारत का ही आख्यान लगता है, यह 'जंबूद्वीपे भरतखंडे' क्या है जिसकी झंकार बचपन से ही कानों में ऐसी पड़ती रही, कुएं के मेंढ़क की तरह हमें पूरा भारत अपने ही आसपास का सीमित भूभाग लगता है, उतने भर से ही आत्ममुग्ध रहते हैं। आज भी भारतीय संस्कृति की काल्पनिक तसवीर में हम उत्तर भारत से इधर उधर कहीं नहीं खिसकते। उत्तरपूर्व के क्षेत्र, हमारे पर्वतीय क्षेत्र, दक्षिण भारत के क्षेत्र हमारी भारतीय संस्कृति की परिकल्पना से बाहर ही होते हैं। इसलिए मुझे सच तो यही लगता है कि 'भारतीय संस्कृति' जैसी सर्वसमावेशी कैटेगरी संभव ही नहीं, क्योंकि उसका कोई एक आकार है ही नहीं, वह पूरी तरह से काल्पनिक उत्तरभारतीय ब्राह्मणवादी अवधारणा है जिसकी महानता के गीत उसी तरह गाये जा सकते हैं, जैसे सब अपने अपने

ईश्वर के गाते हैं।

पूरे देश की एक संस्कृति की भ्रांत अवधारणा की ही तरह, पूरे देश की एक भाषा मानने की भ्रांति भी खूब फैलायी गयी और नारा गढ़ा गया, 'हिंदी', 'हिंदू' 'हिंदुस्थान'। यह भी ज़मीनी हक़ीक़त से क़तई मेल नहीं खाता था। हिंदी-प्रेमी कहते नहीं अघाते कि 'हमारी 'राष्ट्रभाषा' एक ही भाषा हो सकती है, वह है हिंदी', और यह भ्रांति कम से कम उत्तर भारतीयों के तमाम दिमाग़ों में बिठा दी गयी है। इस भ्रांति में स्वाधीनता के दौर के आंदोलनकारियों को भी शामिल कर लिया गया था, गांधी जी तक इस भ्रांति के शिकार थे। उत्तर भारतीय हठधर्मियों ने अपने को 'पुरुषोत्तम' मान कर उसे संविधान तक में पूरे देश की भाषा के रूप में दर्ज करा दिया। नतीजा, उस पर अमल करते ही भाषायी दंगे हुए और उस परियोजना को टालना पड़ गया, मगर फिर भी पूरे देश पर धीरे धीरे हिंदी थोपने की कोशिश हो रही है, भले ही बहुत ज़्यादा कामयाबी हासिल नहीं हो पा रही और न ही इस विशाल देश में वह संभव है। दिल्ली से ही 200 किलोमीटर, पूर्वदिशा को छोड़ कर, आप कहीं भी उत्तर या पश्चिम की ओर साइकिल पर सवार हो कर निकल जाइए, देहात में आपको आज भी लोग हिंदी में बात करते हुए नहीं मिलेंगे और उन्हें आपकी 'हिंदी' से कोई प्यार व्यार नहीं है, वे अपनी हरियाणवी, राजस्थानी या पंजाबी वग़ैरह बोलते गाते और उसे जीते हुए मिलेंगे, उन्हें अपनी ही उस भाषा से प्यार है। रोहतक के गांवों की भाषा या वहां की रागिनी आपकी समझ में नहीं आयेगी जो उनकी अपनी संस्कृति का अहम हिस्सा है। जब यह हाल उत्तर भारत में ही है तो पूरे भारत की एक भाषा, एक संस्कृति, एक अतीत, एक इतिहास की कल्पना कैसे की जा सकती है? भारत के सभी क्षेत्रों के निवासियों में एक बात पर सहमति ज़रूर है कि वे अपने को 'भारतीय' मानते हैं। इस सत्य को वे नहीं नकारते कि वे भारत के नागरिक हैं, वे अपनी बोली बानी और अपने अपने रीतिरिवाज यानी अपनी अपनी संस्कृति में मगन रहते हुए भी भारत से प्यार करते हैं। इसी को हमारे यहां आज़ादी के दौर में 'विविधता में एकता' की अवधारणा के रूप में पहचाना गया था, और यही सच है। इस सच को हर भारतीय को बताया जाना चाहिए जिससे वह अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता के अहंकार को न पाल कर सच्चे जनतांत्रिक मन से सभी की संस्कृतियों को बराबर का आदर दे, सभी भाषाओं को नमन करे, सभी मज़हबों के प्रति आदर भाव रखे या किसी भी मज़हब में दिलचस्पी न रखे, यह अधिकार हर भारतीय को मिला हुआ है। इस पर आंच नहीं आनी चाहिए। चार्वाक की परंपरा में किसी भी ईश्वर को न मानने वालों या कबीर, नानक आदि की तरह निराकार भगवान में अपना अक़ीदा रखने वालों या दयानंद सरस्वती और बहुत से ग़ैरहिंदू मज़हब मानने वालों की तरह मूर्तिपूजा में विश्वास न करने वालों को अपना मत रखने का जनवादी अधिकार आज के सभ्य समाज में मिला हुआ है, इस हक़ पर किसी को कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए, इस विविधता को स्वीकार करना ही सच्चा भारतीय या सच्चा इंसान होना है। यही बात संस्कृति के विमर्श पर भी लागू होती है।

चंचल चौहान

1 मई 2016

भारतीय संस्कृति क्या है?

चंचल चौहान

मेरा एक विद्यार्थी गरीबदास दलित समाज से आता है, अपनी कक्षा में प्रतिभावान छात्रें में से एक रहा है और अब साहित्य और संस्कृति के रिश्ते को ले कर कोई शोध कर रहा है। वह अपने शोध के विषय में ही नहीं, उससे जुड़े विविध पहलुओं की जानकारी हासिल करना चाहता है, अधिक से अधिक ज्ञान हासिल करने की ललक उसमें है। वह अक्सर मेरे पास आता रहता है और बहुत से सवाल करके अपनी जानकारियां बढ़ाने की कोशिश करता है। एक बार जो बातचीत हुई, वह ज्यों की त्यों गुरु और शिष्य की बातचीत के रूप में यहां पेश कर रहा हूं :

ग़रीबदास : सर, आर आर एस के लोगों को अक्सर टी वी पर और अख़बारों की ख़बरों में छपे बयानों में भी 'भारतीय संस्कृति', 'भारतीय संस्कृति' कहते हुए हमने सुना है, मगर वे यह कभी नहीं बताते कि भारतीय संस्कृति क्या है? आप इस के बारे में क्या सोचते हैं?

गुरु जी : चूंकि तुमने सीधे सीधे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के हवाले से सवाल पूछा है तो इस संघ के बारे में ही पहले बात कर ली जाये! आज सबको यह बताना हमारा सामाजिक कर्तव्य है कि इस संगठन की असलियत क्या है। यह संगठन अपने बारे में जो कुछ बताता है वह सब झूठ पर आधारित है। कबीर ने अपने ज़माने में ब्राह्मणवाद को ले कर कहा था कि 'पंडित वाद वदै सो झूठा'। यही बात हम आज के ज़माने में ब्राह्मणवाद के हिमायती आर एस एस के बारे में कह सकते हैं। यह संघ अपने जन्मकाल से ही अंग्रेज़ों का भक्त रहा, इस संघ ने कहीं भी उन दिनों 'भारत माता की जय' या 'वंदे मातरम्' का नारा नहीं लगाया, राष्ट्र की मुक्ति के लिए कोई जुलूस नहीं निकाला, न ही कोई आंदोलन कभी छेड़ा, किसी ने कारावास या काले पानी का दंड नहीं झेला और न हंसते हंसते फांसी के तख़्ते पर कोई आर एस एस का नेता झूला। मगर आज उनका हर नेता अपने को फोकट में सबसे ज़्यादा 'राष्ट्रीय' कहता फिरता है। आज तो यह संघ अपनी शर्म मिटाने के लिए रात दिन सब को 'राष्ट्रभक्ति' पढ़ाने और अपने मन मुताबिक बहुत से प्रतीकों को मनवाने की हिंसात्मक कोशिशों पर उतर आया है जबकि हम सब जानते हैं कि आर एस एस की आज़ादी की जंग में कोई आंदोलनात्मक शिरकत नहीं थी। जब देश की आज़ादी के लिए भारत के सभी लोग अपने अपने धर्म, जाति, समुदाय, क्षेत्रीयता भुला कर क़ौमी एकता की डोर में धीरे धीरे बंध रहे थे, उन दिनों भारतीयों में फूट पैदा करना ही इसकी कारगुज़ारी थी जो ब्रिटिश सामराजियों के पक्ष में जाती थी। आज भी यह अंग्रेज़ शासकों की नीति यानी आम भारतीयों में 'फूट डालो और राज करो' की नीति ही अपनाये हुए है। इस नज़र से यह एक देशविरोधी, भारतीय

संविधानविरोधी और जनविरोधी संगठन है। इसकी ब्रिटिश वफ़ादारी की रिपोर्टें अब तो जगज़ाहिर हैं। इसलिए इसका चरित्र राष्ट्रीय न हो कर हमेशा से राष्ट्रविरोधी रहा है। इसकी विचारधारा भी भारतीय नहीं है। इसका सबूत संघ के गुरु गोलवलकर की 1930 में लिखी एक अंग्रेज़ी किताब, *वी ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइंड* (*We or Our Nationhood Defined*) में मौजूद है। यह किताब पढ़े लिखे लोग, हमारे विद्यार्थी और नौजवान तो अब इंटरनेट और अपने आधुनिक मोबाइल पर भी देख सकते हैं। देखें,

http://sanjeev.sabhlokcity.com/Misc/We-or-Our-Nationhood-Defined-Shri-M-S-Golwalkar.pdf

गोलवलकर ने इस किताब के पृष्ठ 87-88 पर लिखा है :

> To keep up the purity of the Race and its culture, Germany shocked the world by her purging the country of the Semitic Races—the Jews. Race pride at its highest has been manifested here. Germany has also shown how well-nigh impossible it is for Races and cultures, having differences going to the root, to be assimilated into one united whole, a good lesson for us in Hindusthan to learn and profit by.

हिंदी में कहें तो इसमें साफ लिखा है कि जर्मनी के नाजियों ने अपनी नस्ल और संस्कृति की शुद्धता के लिए वहां जो कुछ किया, 'वही भारत के लिए अनुकरणीय है।' इस तरह गुरु गोलवलकर ने साफ़ तौर पर नाजियों को अपना गुरु घोषित किया और उन्हीं से उन्होंने शिक्षा ग्रहण की है यानी हिटलर की पार्टी के विचार ही संघियों की विचारधारा हैं, यानी हिटलर ही उनका गुरु है। इस तरह भारतीय संस्कृति से आर एस एस की विचारधारा का कोई लेना देना नहीं है क्योंकि संघ के गुरु गोलवलकर इस किताब में साफ़ दर्शाते हैं कि 'विविध नस्लों और संस्कृतियों से मिलेजुले किसी देश को राष्ट्र बनाना लगभग नामुमकिन है!' जर्मन नाजियों की तरह नस्लवादी हिंसा अपनाने की सलाह गोलवलकर अपनी इस किताब में देते हैं। इन विचारों को दुनिया भर के विद्वान लोग और इतिहासकार, महान समाजशास्त्री और प्रोफ़ेसर और भारतीय संस्कृति के सच्चे विचारक 'फ़ासीवादी' विचार कहते हैं। इन विचारों से दुनिया के सारे मानववादी अवाम नफ़रत करते और उन्हें न अपनाने की नेक सलाह देते हैं। जर्मनी में हिटलर ने ये ही विचार अपनाये थे जिनकी तारीफ़ संघी गुरु गोलवलकर ने की और जिनसे अपने देश में हिटलर ने अपने ही देश के बेगुनाह यहूदी नागरिकों के खून की नदियां बहा कर उस देश को तबाह कर दिया था। ये ही हिटलरशाही ख़तरनाक विचार और देशविरोधी ज़हरीले नारे गोलवलकर के चेले चपाटे संघियों के दिमाग़ में संघ की शाखाओं में रोज़ सबेरे सबेरे भरे जाते हैं, जहां वे एक ऐसी ख़ाकी नेकरवाली पोशाक में क़वायद करते हुए देखे जा सकते हैं जिस पोशाक का भी भारतीय संस्कृति या वेद पुराणों में कहीं कोई हवाला नहीं मिलता, वह विदेशी फ़ासिस्टों की ड्रेस है। इस ड्रेस का विचार आर एस एस के ही एक और विचारक, बी एस मुंजे, इटली के कुख्यात फ़ासिस्ट शासक मुसोलिनी के संघ से सीख कर, भारत लौटे थे जब वे 1931 में 15 मार्च से 24 मार्च तक इटली में रहे थे और कुख्यात फ़ासिस्ट तानाशाह मुसोलिनी से भी मिले थे, वहां के आर एस एस जैसे फ़ासिस्ट संघ की शाखाओं, उनके ट्रेनिंग संस्थानों वग़ैरह को देखा था। मुसोलिनी के संघ की नक़ल पर भारत आ कर उसी तरह से उन्होंने काम करना शुरू कर दिया, उसी तरह संघ के सदस्यों को ख़ाकी ड्रेस पहनायी और क़वायद करायी। वही तौर तरीक़ा आज तक चल रहा है, इसका भारत की संस्कृति से दूर तक कोई नाता नहीं। इटली यात्रा का यह सारा ब्योरा मुंजे जी की अपनी डायरी में लिखा हुआ है जिसे नेहरू म्यूज़ियम लाइब्रेरी में कोई भी देख सकता है।

जिस 'हिंदू राष्ट्र' की स्थापना के लिए संघी जीतोड़ कोशिश कर रहे हैं, उसका खुद भारत के महान संस्कृतिनिर्माताओं के विचारों से कोई लेना देना नहीं। वह विदेशी फ़ासिस्टों की तानाशाही वाली

राज्यव्यवस्था की नक़ल है, भारत भूमि में उसके बीज कहीं नहीं हैं। इसलिए लोगों को उल्लू समझ कर वे हवाई 'भारतीय संस्कृति' का जाप ज़रूर करते हैं, वे खुद हमारी उस बहुरंगी, हज़ारों सालों में विकसित संस्कृति के बारे में कुछ नहीं जानते। इसीलिए सवाल पूछने पर संस्कृति के बारे में कुछ बता भी नहीं पाते। संस्कृति और इतिहास के बारे में संघी सबसे अधिक अपढ़ हैं।

ग़रीब दास : तो फिर संस्कृति को आप कैसे समझते हैं, पहले आप संस्कृति के बारे में हमें बतायें, फिर भारतीय संस्कृति के बारे में विस्तार से चर्चा करें।

गुरु जी : मानव समाज अपनी आदिम अवस्था से इस समय के आधुनिक समाज तक एक लंबी विकास यात्र तय करके पहुंचा है। यह विकास उत्पादन के साधनों और उन साधनों पर स्वामित्व में तब्दीली होते होते इस मंज़िल तक आया है। जब उत्पादन के साधन आदिम अवस्था में थे तो उस समाज को आदिम समाज के रूप में जाना गया, जब नये उत्पादन के साधन विकसित हुए तो समाज व्यवस्था में भी तब्दीलियां आती गयीं, भूमि जब 'संपत्ति' बन गयी तो भूस्वामी वर्ग और उनके लिए काम करने वाले दासों में समाज बंट गया। इस तरह शोषण पर आधारित समाज व्यवस्था वाला वर्गविभाजित समाज बना। आगे चलकर विकास के नये चरण में सामंतवादी समाज बना, फिर उत्पादन के साधनों में वैज्ञानिक प्रगति के साथ मशीनों से उत्पादन शुरू हुआ तो पुराना सामंती समाज ध्वस्त हुआ और पूंजीपतियों ने नये उत्पादन साधनों पर कब्ज़ा कर लिया और तब पूंजीवादी व्यवस्था क़ायम हुई। उससे आगे की व्यवस्था समाजवादी समाज की और फिर साम्यवादी समाज की होगी। इस तरह की तब्दीलियों से मानव समाज का इतिहास बनता है। यह सब दुनिया के सभी भागों में होता आया और आज भी ये परिवर्तन हो रहे हैं। अभी कुछ ही समय पहले नेपाल जैसे छोटे देश में सामंती समाज व्यवस्था का ख़ात्मा हो गया और वहां नयी समाज व्यवस्था विकसित हो रही है, अकेला 'हिंदू राष्ट्र' समझा जाने वाला देश भी अब एक आधुनिक धर्मनिरपेक्ष समाज बनने जा रहा है।

इस तरह के परिवर्तन दुनिया के सारे देशों में मानव समाज के विकास के साथ साथ हुए हैं, और हो रहे हैं। शोषण पर आधारित समाज व्यवस्था ख़त्म तो होगी ही। अनेक देशों में इसी वजह से देर सवेर क्रांतियां हुईं। पूंजीवादी समाज व्यवस्था क़ायम करने के लिए भी क्रांतियां हुईं, समाजवादी समाज के लिए समाजवादी क्रांति हुई तो कहीं जनता की जनवादी क्रांति, समाज व्यवस्थाएं बदलने का यह सिलसिला इसी तरह क्रांतियों के द्वारा हुआ है। भारत में भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति इसी तरह राष्ट्रीय आंदोलन के माध्यम से हुई।

जब समाज बदलता है तो इसी तरह अपने देशकाल के अनुसार हर संस्कृति में भी बदलाव आते हैं और बहुत से नये तत्वों के साथ संस्कृति भी अपने अपने समाज में विकसित होती रहती है। हर समाज में संस्कृति इंसान को बेहतर बनाने, उसे इंसानियत के सबक़ सिखाने और इस तरह उसे संस्कारवान मानव बनाने का औजार या माध्यम रही है। उसमें वर्गीय विचारों के टकराव भी होते हैं। समाज के विकास के पिछड़े युग में संस्कृति में कुछ पिछड़े विचार और कुछ रीतिरिवाज ऐसे भी आते रहे जिनसे आगे चल कर समाज को नुक़सान होने लगा, तो समाज सुधारक, कवि, संत, विचारक उसमें सुधार करके संस्कृति को भी मांजते रहे, जैसे गंदे बर्तन को चमकाने के लिए हम अपने घरों में उसे रगडने में नहीं हिचकते, उसी तरह संत, विचारक, कवि यानी संस्कृतिकर्मी समाज में मौजूद बुराइयों को ख़त्म करने के लिए और नये ज्ञान और तर्कसंगत विचारों को समाज में फैलाने, अंधविश्वासों को ख़त्म करने

के लिए अपनी जान तक कुर्बान कर देते हैं।

इस तरह हर संस्कृति बहते पानी की तरह गंदगी दूर करती चलती है और समाज के विकास के साथ और अधिक मानवीय और तर्कसंगत ज्ञान की धारा अपने में समाहित करके आगे बढ़ती है। वह गंदे तालाब की तरह एक जगह रुकी हुई नहीं रह सकती, यदि ऐसा होगा तो वह सड़ जायेगी। इसलिए संस्कृति को मांजने का काम भी सारे ख़तरे उठा कर किया जाता है।

संस्कृति को बेहतर बनाने का काम हर समाज में हुआ है। भारतीय संस्कृति में भी आदि काल से ले कर अब तक यह होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। इस विकास को रोका नहीं जा सकता, न हिटलर या मुसोलिनी अपने समाज में रोक पाये और न आर एस एस जैसे उन्हीं के चेले चपाटे इस विकास को हमारे समाज में रोक पायेंगे। उन्होंने गांधी जी को मरवा दिया, क्योंकि वे भारतीय संस्कृति के बहुमूल्य आधार यानी इसकी बहुरंगी बहुलतावादी संस्कृति के पैरोकार थे, यहां के सभी धर्मों, सभी तरह के विचारों, संतों, सूफ़ियों की वाणी के मानवीय पक्षों को अपना कर सच्चे भारतीय की तरह आचरण करते थे। उनके आश्रम में जो गीत गाये जाते थे, उनमें भारतीय संस्कृति के सबसे अधिक मानवीय सारतत्व का समावेश होता था। मसलन, नरसी मेहता का मशहूर गीत, 'वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीर परायी जाने रे' उनकी प्रार्थना सभा में रोज़ गाया जाता था। यह गीत भारतीय संस्कृति के उस आचरण का हिस्सा है जिसमें संस्कृत तक में कहा गया था, 'परोपकाराय सतां विभूतयः' जिसका तुलसीदास ने अपने *रामचरितमानस* में अनुवाद करते हुए लिखा था कि 'परहित सरिस धरम नहिं भाई/ परपीड़ा सम नहिं अधमाई।' गांधी जी भारत में मौजूद सभी धर्मों की मानवतावादी वाणी का आदर करते थे और उस वाणी का पाठ उनके आश्रम में होता था। उनका यह सांस्कृतिक आचरण हिटलर की विचारधारा मानने वालों के खिलाफ़ जाता था। इसलिए देश की साझा संस्कृति के विरोधी हिटलरी संघियों ने उनकी हत्या करवा दी। संघी दिमाग़ में तो 'परपीड़ा' का ज़हर रोज़ घोला जाता है जिसकी वजह से उनके हाथों वे लोग मारे जाते हैं जो उनकी विचारधारा के हिसाब से 'पराये' हैं, जैसे भारत के ही अपने नागरिक अल्पसंख्यक मुसलमान, ईसाई, दलित, स्त्री और धर्मनिरपेक्षता और वैज्ञानिक तर्कशील विचारों के पैरोकार विद्वान लोग। ये सब संघियों के लिए दुश्मन की तरह हैं।

वे ऐसे विचारकों की आज भी हत्याएं कर रहे हैं जो सदियों से चली आ रही हमारी साझा संस्कृति को और अधिक बेहतर व मानवीय बनाने की कोशिश में लगे हैं, जो अंधविश्वासों और जातपांत, छुआछूत के विचारों की गंदगी साफ़ करके भारतीय संस्कृति को सोने की तरह चमकदार बनाने की कोशिश कर रहे हैं। पिछले ही कुछ अरसे में आपने सुना होगा कि आर एस एस के लोगों ने नरेंद्र दाभोलकर, गोविंद पानसरे और एम एम कलबुर्गी जैसे विद्वानों की हत्या कर दी क्योंकि वे अंधविश्वासों के ख़िलाफ़ लिख और बोल रहे थे और आंदोलन चला रहे थे। पश्चिमी देशों में तो मध्ययुग में ऐसी घटनाएं हुई थीं जब संस्कृति को बेहतर बनाने वाले ज्ञानवान इंसानों के साथ इसी तरह के सलूक हुए थे। ब्रूनो नामक विद्वान को पादरियों ने जला दिया था क्योंकि वह कहता था कि पृथ्वी सूरज का चक्कर लगाती है, सूरज नहीं। गेलीलियो को क़ैद में डाल दिया गया था क्योंकि वह बताता था कि आकाश में चमकने वाले ग्रह-नक्षत्र पृथ्वी की ही तरह भौतिक पिंड हैं, ईश्वरीय आभाद्वीप नहीं हैं। उसने अपनी दूरबीन से पादरियों को नक्षत्र दिखाने की कोशिश भी की, मगर वे सब वही कहते रहे जो सदियों से अज्ञानवश पादरी लोग कहते आ रहे थे। विज्ञान को नहीं, अज्ञान को फैलाने में ही शोषकवर्गों को फ़ायदा दिखता है। कबीर, ब्राह्मणवाद के द्वारा समाज में फैलाये गये अंधविश्वासों के अंधकार में फंसे इंसानों से कहते थे कि 'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आंखन की देखी!' गेलीलियो भी यही कह रहा था, मगर

उसे जेल में डाल दिया गया। भगवान बुद्ध ने मरते समय अपने लोगों से कहा, 'अप्पो दीपो भव', यानी 'अपने दीपक खुद बनना' 'लकीर के फकीर मत बनना।' गुरु नानक ने ज्ञानी की परिभाषा करते हुए कहा कि 'प्रणवति नानक ज्ञानी कैसो होय/आपु पिछाणे बूझे सोइ'। कन्नड़ के एक कवि बसवन्ना बारहवीं सदी में यही कह रहे थे। उन्हें भी मार दिया गया था। यह संस्कृति को मांजने की परंपरा है, सत्य की खोज करो, 'असदो मा सद गमय'। कबीर भी सताये जाते थे तो कहते थे कि 'सांच कहउ तो मारन धावहिं झूठहिं सब पतियाना'। आर एस एस के लोग हमारे यहां के तर्कसंगत ज्ञान को नहीं मानते और एक काल्पनिक इतिहास, एक काल्पनिक विज्ञान, एक काल्पनिक संस्कृति यानी झूठ और अज्ञान पर आधारित काल्पनिक 'भारतीय संस्कृति' का जाप करते रहते हैं जिससे लोग अज्ञान अंधकार में डूबे रहें और अज्ञान पर आधारित सदियों से चली आ रही कुछ सड़ीगली परंपराओं से लोग चिपके रहें और आगे न बढ़ें।

आर एस एस ने ग़रीब जनता के बजाय हमेशा रजवाड़ों का पक्ष लिया, सतीप्रथा के पक्ष में उनके नेताओं ने अपनी सहमति खुले तौर पर ज़ाहिर की, दलितों के लिए आरक्षण के खिलाफ़ उनके नेतृत्व के विचार जगज़ाहिर हैं, इस तरह इस देश के ही वंचित शोषित नर नारियों व अल्पसंख्यकों के हित के लिए बने संवैधानिक क़ानून उन्हें मान्य नहीं। कश्मीर में राजा हरी सिंह का पक्ष ले कर कश्मीर का भारत में विलय रोकने की कोशिश, आर एस एस ने खुले तौर पर की थी। इसी तरह आज़ाद भारत में जब रजवाड़ों के प्रिवी पर्स ख़त्म करने का फ़ैसला हुआ तो संघ ने रजवाड़ों का ही पक्ष लिया जो भारत की ग़रीब जनता के पैसे से ऐश करते आ रहे थे। आज के समय में भारतीय समाज में जो देशी विदेशी पूंजीपति ग़रीबों को लूट रहे हैं, और दिनोंदिन लूट से अपनी दौलत में दिनदूना रात चौगुना इज़ाफ़ा कर रहे हैं, बैंकों में जमा ग़रीब जनता का पैसा विजय माल्या जैसे अनेक पूंजीपति उधार ले कर डकारे ले रहे हैं, आर एस एस और उनकी सरकार इन्हीं कारपोरेट घरानों का ज़रख़रीद गुलाम बन कर देश के ग़रीबों के साथ धोखा करने पर उतारू है। उनके खिलाफ़ आम शोषित जन लामबंद न हो पायें, सही अर्थों में शोषण से मुक्ति के संघर्ष में न उतर पड़ें, इसलिए असली दुश्मन को बचाये रखने और देश के ही ग़रीब जनों के एक हिस्से को नक़ली दुश्मन के रूप में पेश करने के लिए नक़ली भारतीय संस्कृति का जाप करते रहते हैं। पहले रजवाड़ों के, अंग्रेज़ शासकों के भक्त रहे और आजकल ये सब बड़े कारपोरेट घरानों के स्वयंसेवक हैं, भारत के अवाम के हितों से इनका दूर दूर तक नाता नहीं, झूठे नारे, झूठे वादे और झूठी हमदर्दी के अलावा सचमुच कुछ देश के लिए करना इनकी फ़ितरत ही नहीं। तुलसी बाबा के शब्दों में, 'झूठहि लेना झूठहि देना / झूठहि भोजन झूठ चबेना।' दुनिया के हर देश में फ़ासीवादी विचारों की पार्टियां व संगठन अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के सबसे घिनौने पैरोकार रहे हैं। भारत में भी आर एस एस उसी पूंजी का राजनीतिक उत्पाद है। इस वैज्ञानिक सच्चाई से इनकार नहीं किया जा सकता। इनका भारतीय संस्कृति से कोई लेना देना नहीं। संस्कृति के नाम पर लोगों को ठगना और उनमें संस्कृति के नाम पर आपसी भेद व नफ़रत पैदा करना ही इनका छिपा उद्देश्य है।

ग़रीब दास : तो असली भारतीय संस्कृति क्या है? सर, यह भी तो बताइए।

गुरु जी : भारतीय संस्कृति कोई बना बनाया बंद संदूक नहीं है, वह हज़ारों साल के मानव विकास के उन तमाम बहुविध विचारों का पिटारा है जिनमें से अपने सांस्कृतिक विकास को आगे ले जाने के लिए मानव समाज कुछ चुनता रहता है, कुछ को कूड़ेदान में फेंकता रहता है। भारतीय संस्कृति में भी यही

सिलसिला जारी रहा और आज भी जारी है। यह एक अकाट्य सत्य है कि भारतीय संस्कृति की आत्मा उसकी विविधता है और उसी विविधता में एकता का नाम ही भारतीय संस्कृति है। भारतीय संस्कृति सभ्यता के आदिकाल से ही साझा संस्कृति रही है। यह बात हमारे देश के वैदिक काल से ले कर आज तक के संतों, मुनियों, सूफ़ियों और सभी धर्मों के ज्ञानवान इंसानों तथा वैज्ञानिक नज़र से समाज को देखने वाले समाज वैज्ञानिकों ने कही है। भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को सबसे पहले *अथर्ववेद* में गाया गया, उसमें से दो श्लोक मैं तुम्हें सुनाता हूं। जिसको यक़ीन न हो तो वह इंटरनेट पर मौजूद इस पुस्तक की पीडीएफ़ फ़ाइल पढ़ कर खुद देख सकता है :

> यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पंच कृष्टयः ।
> भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे।। (मंडल 12 सूक्त-1, 42)
>
> (जिस भूमि में अन्न प्रचुर मात्र में होते हैं जिस में पांच प्रकार के लोग आनंदपूर्वक रहते हैं, जहां भूमि पर बादल बरसते हैं उससे उसका पोषण होता है, उस पृथ्वी को नमन है।
>
> ...
> जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
> सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनु ंअनपस्फुरन्ती (मंडल 12 सूक्त-1, वही)
>
> (अनेक प्रकार की धार्मिक मान्यता वालों और विविध भाषाभाषी जनसमुदाय को एक परिवार के रूप में आश्रय देने वाली, अविनाशी और स्थिर स्वभाव वाली पृथ्वी, गाय के दूध देने के समान ही असीम ऐश्वर्य हमें प्रदान करने वाली बने)

यही भारतीय संस्कृति का मूल है। *अथर्ववेद* के रचने वाले कवियों ने अपने समय के यथार्थ के मुताबिक़ यह ज्ञान हासिल कर लिया था कि भारत अकेला ऐसा देश है जहां की मिट्टी और जलवायु में ही विविधता है। साल भर सभी मौसम देश में कहीं न कहीं रहते हैं, हिमालय पर बर्फ़ तो कन्याकुमारी पर गरमी, कहीं बसंत, कहीं बारिश। यही विविधता यहां की मिट्टी, अन्न, फल-फूल, पेड़, पौधों और पशुधन व पक्षियों तक में देखी जा सकती है। खानपान, रीति-रिवाज, देवी देवता, पूजा-पाठ और विचार व तरह तरह के भगवानों में, काले गोरे देवी देवताओं में विश्वास या अक़ीदे में यह विविधता ही भारतीय संस्कृति की आत्मा है। यहां निर्गुण, सगुण, आस्तिक, नास्तिक सभी तरह के दर्शन व विश्वास लंबे समय से चले आ रहे हैं। अगर 'ईशावास्यम् इदम् सर्वम् यत्किंच जगत्याम् जगत', की अवधारणा को ही संघी मान लें तो भी सांप्रदायिक नफ़रत भारत में फैलाने की गुंजाइश ही नहीं बचती। 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना' में इसी भावना का उद्गार तुलसी ने किया है। तुलसी के इसी विचार को संघी मान लेते तो बाबरी मस्जिद को ढहाने की आपराधिक कार्रवाई वे क्यों करते क्योंकि हमारी संस्कृति के अनुसार तो वहां भी ईश्वर का ही वास था। यहां के सभी दर्शनों में आपस में वैचारिक संघर्ष भी होते रहे हैं, क्योंकि भारतीय परंपरा यह मानती रही कि 'वाद से ही सत्य सामने आता है।' मगर इसके लिए मारकाट या खूनख़राबा भारतीय संस्कृति की परंपरा के अनुकूल नहीं, शास्त्रार्थ करने की मनाही नहीं। यही वैचारिक विविधता भारतीय संस्कृति की मूल आत्मा है। संघी अज्ञानी इसे नकारते हैं। इसलिए वे अपनी सोच में भारतीय संस्कृति के विरोधी और एक ही काल्पनिक 'नस्ल' और उसकी संस्कृति की 'शुद्धता' के पागलपन के शिकार हिटलर की नक़ल पर बनायी गयी झूठी 'भारतीय संस्कृति' या नाज़ियों की कल्पित 'आर्य संस्कृति' का जाप करते हैं।

'आर्य संस्कृति' के झूठ पर विश्वास करते ही हम अपने विशाल देश के अनेक क्षेत्रों, ख़ासकर दक्षिण भारत व पूर्वोत्तर व गोवा आदि के भारतीयों और उनकी अपनी सांस्कृतिक परंपराओं के विपरीत खड़े नजर आते हैं। इस तरह आर एस एस के विचार विभाजनकारी व देशविरोधी भी हैं, भले ही वे 'राष्ट' 'राष्ट्र' चीखते रहें, उनका मक़सद तो देशविदेश की कारपोरेट पूंजी की सेवा करना ही है जो काम जर्मनी में हिटलर ने किया था जो दुनिया के हर देश में घुसे फ़ासिस्टों या संघियों का गुरु है, जो नस्ल के आधार पर इंसान का बंटवारा करते हैं और शोषण की परंपरा की रक्षा के लिए खूनखराबा करने में मशगूल हैं।

अथर्ववेद के बाद भारतीय संस्कृति की इस बहुलता का सबसे अच्छा नमूना हमें देश भर के भक्त व सूफ़ी कवियों की रचनाओं में दिखायी देता है। तमिलनाडु के साहित्य के आदिकाल में जो 'संगम कविता' लिखी गयी, वह पंथनिरपेक्ष कविता और बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय कविता है, वह असली भारतीय संस्कृति का हिस्सा है। उत्तर भारत में पंजाब के सिख गुरुओं ने अकबर के शासनकाल में अपने शिष्यों के लिए जिस *गुरु ग्रंथ* साहब का संपादन व संकलन तैयार किया उसमें सभी जातियों और मज़हबों के संतों की वाणी शामिल की। यह भारतीय संस्कृति की बहुलतावादी आत्मा का सबसे बड़ा सबूत है। वह वाणी ज्ञानमार्गी उन संतों और सूफ़ियों की है जो ब्राह्मणवादी ग़ैरबराबरी के :फलसफ़े के खिलाफ़ वैचारिक संघर्ष कर रहे थे और कह रहे थे कि 'जातपात पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि को होई।' इन संतों में से ज़्यादातर दलित समुदाय से आये संत थे, डोम, रविदास, खत्री, सूफ़ी -- सब ज्ञान की धारा को आगे बढ़ाने और हमारी संस्कृति के बहुरंगी रूप को और अधिक चमकाने का यह अनोखा प्रयास कर रहे थे, कबीर की ज़ोरदार वाणी भी *गुरुग्रंथ* साहब का अहम हिस्सा है।

इस वैचारिक बहुलता का आदर सबसे बड़े रामभक्त बाबा तुलसीदास भी करते हैं, उनके महाकाव्य, *रामचरितमानस* के 'मंगलाचरण' में ही यह बहुलता का विचार अंकित है, 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् / रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।' शुरुआत ही ज्ञान की बहुलता और इस स्वीकारोक्ति से होती है कि ज्ञान अन्यत्र भी है। इस बहुलता का विचार उनकी रामकथा में बार बार रेखांकित होता है, बहुलता का पर्याय, 'नाना' शब्द का इतना दुहराव शायद ही किसी कवि के यहां हो। ए के रामानुजन जैसे विद्वान ने 'तीन सौ रामायणें' नाम से एक लंबा लेख लिखा था जो दिल्ली यूनिवर्सिटी के एक कोर्स में पढ़ाया जाता था। आर एस एस के मूढ़ लोगों ने आंदोलन छेड़ कर उसे कोर्स से निकलवा दिया। संघियों का यह क़दम भारत की बहुलतावादी संस्कृति के विचार के ख़िलाफ़ तो था ही, उस सच्चाई के भी ख़िलाफ़ था जिसका हवाला हमें तुलसीदास के *रामचरितमानस* में भी मिलता है। बाबा तुलसीदास ने 'तीन सौ' से भी आगे जाकर कहा, 'हरि अनंत हरिकथा अनंता / कहहिं वेद बुध गावहिं संता।' क्या भारतीय संस्कृति के इस सत्य को आर एस एस का कोई ज्ञानी चुनौती दे सकता है? हंगामा करके हिंसा भले भड़का ले, इस ज्ञान को नकारना संघ के बूते की बात नहीं। खुद तुलसीदास ने रामायणों की बहुलता के बारे साफ़ लिखा था :

> रामकथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मन माहीं ।।
> नाना भांति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा ।।

इसका सीधा सीधा अर्थ यह है कि दुनिया में रामकथा की गिनती नहीं की जा सकती, नाना तरह से कवियों ने राम अवतारों का वर्णन किया है, और सैकड़ों करोड़ों यानी अपार रामायणें लिखी गयीं। क्या आर एस एस के मूढ़ लोग तुलसीदास के *रामचरितमानस* को भी प्रतिबंधित कराने की हिम्मत दिखा सकते हैं जिन्होंने ए के रामानुजन के लेख, 'तीन सौ रामायणें' से भी आगे जा कर कहा कि रामायणों

की गिनती ही नहीं हो सकती। 'रामायन सत कोटि अपारा'। यानी रामायणें सौ करोड़ से भी ज़्यादा होंगी।

अकबर के समय के ज्ञानवान संत कवि रहे हों, या आज के शिक्षाविद् ज्ञानवान इतिहासकार और भारतविद् -- सभी भारतीय संस्कृति के मूल तत्व यानी विचारों की या ज्ञान की बहुलता और सांस्कृतिक विविधता को अपनी वैज्ञानिक समझ के आधार पर व्याख्यायित करते रहे हैं। जो इस बहुलता को नहीं जानता, वह भारतीय संस्कृति को नहीं जानता।

ग़रीब दास : संस्कृति के भीतर कौन कौन से तत्व आप शामिल करते हैं? ज़्यादातर लोग धर्मों से संस्कृति के तत्वों को लेते हैं या जोड़ते हैं।

गुरु जी : दर असल, इंसान के भीतर की रचनात्मक क्षमता से रचे गये तमाम सुंदर ताने बाने का नाम है -- संस्कृति। इसमें साहित्य, कला, संगीत, नृत्य, विज्ञान, दर्शनशास्त्र, मूर्तिकला, स्थापत्य या भवननिर्माणकला और तमाम ज्ञानधाराएं शामिल होती हैं जो देश और समाज को बेहतर बनाने के लिए रची गयीं और आगे भी रची जायेंगी। विचारों और कल्पना का महान सागर संस्कृति का ही क्षीरसागर है जिसमें सत्यं, शिवं और सुंदरं की अबाध धारा हमेशा समाहित होती आयी है और आगे भी होती रहेगी। भारतीय मनीषियों, सभी धर्मों, पूरे मानवसंसार के सभी दर्शनों के हज़ारों तरह के रंगों से सजी रची और दिनोंदिन समृद्ध होती हुई और अपने तन के मैल को दूर करती हुई यानी अपने को परिमार्जित करती हुई ज्ञानधारा ही भारतीय संस्कृति है। भारतीय संस्कृति के किसी भी अंग को देखें तो पायेंगे कि उसे समृद्ध करने में सभी भारतीयों का योगदान रहा, भले ही उनका मज़हब या उनका ईश्वर या उनका दार्शनिक चिंतन कोई भी रहा हो। साहित्य हो, कला हो, नृत्य हो, संगीत हो, भवनकला या मूर्तिकला हो, विज्ञान हो, दर्शन हो कोई भी ज्ञानधारा हो, 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भारतीय मान्यता के आधार पर दुनिया के किसी भी हिस्से के महान मानवतावादी मनीषियों के ज्ञान व दर्शनों से सजीधजी भारत की संस्कृति पूरे विश्वज्ञान से समृद्ध होती आयी है और आगे भी होती रहेगी। बंद दिमाग़ लोगों के पास भारत की इस संस्कृति की समझ ही नहीं है।

भारत के भी सभी तरह के नागरिकों ने संस्कृति के सभी क्षेत्रों के विकास में महान योगदान दिया है और इस योगदान के सबूत हर क्षेत्र में जीवंत दिखायी देते हैं, वे सब भारत की सुंदरता को निखारते हैं, पुराने से पुरानी इमारतें, पुरानी से पुरानी मूर्तिकला, चित्रकला, तरह तरह के नृत्य व संगीत, वाद्ययंत्र, साहित्य व सारा रचनासंसार इस बहुलतावादी सुंदरता के अदभुत उदाहरण हैं। अथर्ववेद के समय भी यह बात भारतीय मनीषियों ने ज़ोर दे कर कही थी, आज भी इस बात को ज़ोर दे कर कहना चाहिए जिससे कोई संगठन अपने राजनीतिक स्वार्थों से अंधा हो कर भारतीय संस्कृति को विकृत न कर सके। इसे बिगाडने़ या इस बहुलता का अनादर करने वाले संगठनों और उनकी हिटलरवादी राजनीति का भी प्रतिरोध हर जागरूक भारतीय को करना चाहिए।

ब्रिटिश राज से आज़ाद होने के लिए सभी धर्मों, सभी संस्कृतियों, सभी भाषाभाषियों यानी सभी भारतवासियों ने अपना योगदान दिया, अपना खून बहाया, अनेक शहीद हुए। उन्हीं बलिदानों के बाद हम आज़ाद हुए। बाबा साहब आंबेडकर को आज़ाद भारत का संविधान बनाने का ज़िम्मा दिया गया, और वह संविधान 1950 से देश के शासन प्रशासन का आधार बना। उसमें देश की जनता के साझा संघर्ष को ध्यान में रखते हुए ही सबको बराबरी का अधिकार, अपने अपने धर्म या विचार या संस्कृति को मानने व अभिव्यक्ति की आज़ादी आदि नागरिक स्वतंत्रताओं को सुनिश्चित किया गया। देश के उन दलित समुदायों को आगे लाने और उनके साथ सामाजिक न्याय की व्यवस्था सुनिश्चित करने के लिए

आरक्षण आदि का प्रावधान किया गया जो सदियों से चली आ रही ग़ैरबराबरी व ऊंचनीच के विचार पर आधारित ब्राह्मणवादी मनुवादी समाजव्यवस्था के शोषण दमन और छुआछूत के शिकार थे। इस तरह एक आधुनिक भारत की नींव पड़ी जिसमें सभी तरह की संस्कृतियों, सभी तरह की भाषाओं में निहित सांस्कृतिक विचारों और सभी मज़हबों को मानने वालों या न मानने वालों को समान नागरिक होने का अधिकार मिला है। 'भारतीय संस्कृति' के नाम पर यदि कोई संगठन इन अधिकारों का हनन करता है जैसा कि आर एस एस के लोग आये दिन करते रहते हैं तो वह संविधानविरोधी और भारतविरोधी क़दम ही माना जाना चाहिए।

ग़रीब दास : सर, आर एस एस की तंग और विभाजनकारी नीति तो आपने स्पष्ट कर दी। एक सवाल मेरे मन में कम्युनिस्टों के बारे में भी है। कुछ कम्युनिस्ट यह मानते हैं और उनके लेखों में यह देखा गया है कि मौजूदा समाज पूंजीवादी-सामंती समाज है, उसकी संस्कृति भी पूंजीवादी-सामंती संस्कृति है, इसलिए वे 'वैकल्पिक' संस्कृति की रचना की बात करते हैं, इसके बारे में आपके क्या विचार हैं?

गुरु जी : कम्युनिस्ट, दर असल, मानवसमाज में आदिम काल से ले कर अब तक आये बदलावों की व्याख्या उस वैज्ञानिक नज़रिये से करते हैं जिसे मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने खोजा और समृद्ध किया। उस दर्शन को द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा जाता है। इसी वैज्ञानिक दर्शन के आधार पर दुनिया भर के समाजों में आयी विकास की मंज़िलों की व्याख्या की जाती है। हमारे समाज में उत्पादन के साधनों पर बड़े देशी-विदेशी इज़ारेदारों और बड़े भूस्वामियों का कब्ज़ा है, इसीलिए कम्युनिस्ट ठीक ही इस समाज को पूंजीवादी-सामंती समाज कहते हैं। इसी वैज्ञानिक दर्शन के आधार पर, बहुत से विकसित पूंजीवादी देशों को साम्राज्यवादी देश कहा जाता है क्योंकि वे बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से कम विकसित देशों का शोषण करते हैं, अपनी पूंजी लगा कर, यहां के कच्चे माल पर कब्ज़ा करके और अपना उत्पाद यहां बेच कर व मुनाफ़ा कमा कर अपने देश ले जाते हैं। ये बड़े कारपोरेट इज़ारे इस तरह अपनी पूंजी बढ़ाते जाते हैं। शोषण की इस व्यवस्था से दुनिया भर में ग़रीब और अधिक ग़रीब, अमीर और अधिक अमीर होते जा रहे हैं। हिंदी कवि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने उन्नीसवीं सदी में इस सत्य को पहचान कर *भारत दुर्दशा* नामक नाटक में लिखा था, 'पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी'। उस समय भी उपनिवेशवादी तत्व यही खेल खेल रहे थे, तो दुनिया में आज भी साम्राज्यवाद की दादागीरी चल रही है। उसकी पूंजी ने आजकल नया रूप ले लिया है, जिसे 'अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी' के नाम से जाना जाता है जिसने भारत समेत सभी विकासशील देशों को कर्ज़ के बोझ से दबा दिया है। इस तरह कम्युनिस्ट विचारक दुनिया और अपने समाज की राजनीतिक आर्थिक स्थिति का आकलन करते हैं।

यह सही है कि आज भारत पर बड़े कारपोरेट घरानों और बड़े भूस्वामियों के गठजोड़ यानी दो सबसे अधिक दौलतमंद वर्गों के गठजोड़ का कब्ज़ा है, जो अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी से लगातार समझौता किये हुए है। इसीलिए हमारे शोषकवर्ग उसके बनाये विश्वबैंक और आइ एम एफ़ के इशारे पर भारत के शोषित समाज का शोषण, उत्पीडन करने में मशगूल हैं। इस शोषण-व्यवस्था को बरक़रार रखने के लिए यह गठजोड़ पूंजीवादी राजनीतिक पार्टियां भी बनाता है, जैसे भारत में कांग्रेस, भाजपा आदि बहुत सी पार्टियां हैं जो शोषक वर्गो के हितों की नुमांइदगी करती हैं, भले ही बदल बदल कर सत्ता में आती रहें, शोषण जारी रहता है। इसे जारी रखने के लिए शोषक वर्ग हर तरह के पिछड़े विचारों, अंधविश्वासों व अतार्किक विचारधाराओं के माध्यम से संस्कृति को भी अपना हथियार बनाता है। सारे अख़बार, टी वी, रेडियो व इंटरनेट यानी सोशल मीडिया आदि पर शोषकवर्गों का कब्ज़ा है जिनका भरपूर इस्तेमाल किया जाता है। शोषकों का यह गठजोड़ साधनसंपन्न है इसलिए उसके लिए यह आसान भी है। अनेक

शिक्षा संस्थान, प्राइवेट यूनिवर्सिटियां, धार्मिक संस्थान और सदियों पुराने ज्ञानविरोधी रीतिरिवाज उसके सहायक हैं। इसलिए ज्ञानधारा के विकास के लिए असीम कठिनाइयां हैं। इसी को कम्युनिस्ट 'पूंजीवादी-सामंती' संस्कृति कहते हैं जिसमें संस्कृति के सड़े गले पक्ष शामिल हैं, जो समाज के सांस्कृतिक विकास के लिए हानिकर हैं; क्योंकि उनसे वैज्ञानिक सोच की जगह अंधविश्वास, अज्ञान आदि पनपते हैं और समाज के अंदर मौजूद सांस्कृतिक पिछड़ेपन को बढ़ावा मिलता है।

तुमने ठीक कहा है कि कुछ कम्युनिस्ट इसकी जगह एक 'वैकल्पिक संस्कृति' यानी 'सर्वहारा संस्कृति' लाने का विचार सामने रखते हैं। एक छोटा सा वामपंथी राजनीतिक दल तो पहले 'सांस्कृतिक क्रांति' लाने का नारा ही देता था जबकि रूस में इस तरह का नारा देने वालों की कटु आलोचना खुद लेनिन ने की थी। दर असल, 'वैकल्पिक संस्कृति' की यह धारणा भी दोषपूर्ण है और इसे किसी महान कम्युनिस्ट विचारक ने सही नहीं ठहराया। इस तरह का नारा रूस में भी कुछ नौजवान कम्युनिस्टों ने 'प्रालीकुल्त' संगठन बना कर दिया था जिसकी खरी आलोचना खुद लेनिन ने की थी, और उन नौजवानों को समझाया था कि मानव समाज की हमारी हज़ारों सालों की सांस्कृतिक विकास की यात्रा के सारे सकारात्मक तत्वों की धरोहर के हम वारिस हैं, उनका संरक्षण और विकास ही सर्वहारा का सांस्कृतिक दायित्व है, 'वैकल्पिक' संस्कृति की रचना नहीं। इसी तरह चीन की क्रांति के दौर में माओ ने मशहूर नारा दिया था, संस्कृति के 'सैकड़ों फूलों को खिलने दो'। माओ भी संस्कृति की संकीर्ण अवधारणा के ख़िलाफ़ थे। चीन में भी भारत की ही तरह बहुलतावादी संस्कृति रही आयी है, इसलिए उसके तमाम सकारात्मक तत्वों का संरक्षण और वैचारिक संघर्ष के माध्यम से उसका विकास ही सही लक्ष्य था जिसे वहां की उस समय की कम्युनिस्ट पार्टी ने तय किया था, जोकि सही और तर्कसंगत भी था। एक विचलन वहां भी हुआ था, कुछ अतिउत्साही माओ समर्थकों ने वहां भी 'सांस्कृतिक क्रांति' का नारा दे कर उस पर जो अमल किया, वह चीनी समाज की प्रगति के लिए बहुत ही घातक साबित हुआ और वहां की कम्युनिस्ट पार्टी ने उसकी खुद तीखी आलोचना की और उस विचलन से वे उबर गये।

भारत के सभी ज्ञानवान नागरिकों और संस्कृति से प्यार करने वालों का यही कर्तव्य है कि वे अपनी संस्कृति के बहुलतावादी चरित्र की रक्षा और विकास में योगदान दें, सदियों से चले आ रहे नकारात्मक विचारों, अंधविश्वासों और कुरीतियों व मानवविरोधी रीतिरिवाजों को संस्कृति के क्षेत्र से बाहर कर उसके सकारात्मक तत्वों के विकास की चिंता हम सब की होनी चाहिए। हमारी यह बहुरंगी भारतीय संस्कृति और अधिक समृद्ध हो जिसमें सारे समुदायों, धर्मों, सारी भाषाओं, दुनिया की सारी वैज्ञानिक तर्कसंगत दर्शनप्रणालियों, संस्कृति को मांजते रहने में सब तरह के मनीषियों, संतों, कवियों, कलाकारों, संगीतज्ञों, नृत्यकलाकारों, स्थापत्यकारों, मूर्तिकारों आदि का रचना श्रम लगा है, और आज भी इन सबकी रचनात्मक शक्ति इसे समृद्ध करने में लगी है। आर एस एस जैसे भारतविरोधी, संस्कृतिविरोधी और फ़ासीवादी सांप्रदायिक संगठनों से भारतीय संस्कृति की आत्मा को बचाना बहुत ज़रूरी है। इसके लिए हर जागरूक बुद्धिजीवी, लेखक, पत्रकार, मीडियाकर्मी, संस्कृतिकर्मी व भारत को प्यार करने वाले हर नागरिक को अपने अपने स्तर पर जनजागृति में योगदान देना चाहिए। ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को आर एस एस के असली चेहरे और चरित्र को बताना चाहिए जिससे हमारा देश प्रगतिशील रास्ते पर आगे बढ़े, वह सांस्कृतिक क्षेत्र में पिछड़ा और पोंगापंथी न बना रहे। ज्ञानविज्ञान की मदद से समृद्ध और खुशहाली भरे भविष्य की ओर आगे बढ़ने में संस्कृति भी मददगार साबित हो। तब एक दिन ऐसा भी आये कि भारत में एक ऐसा समाज बने जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण न हो सके। तो इसी वैचारिक व सामाजिक विकास से हमारी भारतीय संस्कृति और ज़्यादा समृद्ध होगी। आगे फिर कभी।